दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

वर्ष नववाँ
अंक आठवाँ

: संपादक :
रामजी माणेकचंद दोशी वकील

कार्तिक
२४८०

मंगल सुप्रभात

सुप्रभातमंगल में पूज्य गुरुदेव ऐसा अपूर्व मांगलिक सुनाते हैं कि जिससे आत्मा की मुक्ति हो—'अहो जीवो! तुम्हारे आत्मा में परिपूर्ण प्रभुता भरी है, वही मंगलरूप है। उस चैतन्यप्रभुता की श्रद्धा करना, उसका ज्ञान करना और उसमें एकाग्रता करना, वह मंगल है। चैतन्यचमत्कार आत्मा की प्रभुता का विश्वास करने से सम्यग्दर्शनरूपी सुप्रभात का उदय होता है और फिर अल्पकाल में केवलज्ञानरूपी पूर्ण सुप्रभात का उदय होता है।—ऐसा मंगलरूप सुप्रभात जयवंत प्रवर्तमान रहे! आत्मा में ऐसा मंगल सुप्रभात प्रगट करने के लिये, हे जीवो! तुम अपनी प्रभुता को पहिचानो।'

—आत्मा का प्रभुत्व बतलानेवाले... और मंगल सुप्रभात का उदय करनेवाले हे कृपालु गुरुदेव! इस नूतन वर्ष के प्रारम्भ में आपको सर्व भक्तजनों की अंतरंग अभिवंदना....

वार्षिक मूल्य
तीन रुपया

१०४

एक अंक
चार आना

जैन स्वाध्याय मन्दिर : सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

पंचमकाल के तीर्थंकर और गणधर

[—उनके द्वारा कथित समस्त जिनशासन का सार]

श्री समयप्राभृत के मूल सूत्रों के रचयिता भगवान श्री कुंदकुंदाचार्यदेव लगभग दो हजार वर्ष पूर्व इस भरतभूमि में साक्षात् विद्यमान वन-जंगलों में वास करते थे.... वे महान दिगम्बर संत थे; अहो! इस पंचमकाल में उन्होंने तीर्थंकर जैसा कार्य किया है। और इस शास्त्र के टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव भी लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हो चुके हैं; वे महामुनि थे; उन्होंने पंचमकाल में गणधर जैसा कार्य किया है।

ऐसे महासमर्थ.... आकाशस्तंभ जैसे संत समयसार की पंद्रहवीं गाथा में समस्त जिनशासन का मर्म प्रगट करते हुए कहते हैं कि—

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं।
अपदेससन्तमज्झं पस्सदि जिणसासणं सव्वं ॥१५॥

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और असंयुक्त) देखता है वह सर्व जिनशासन को देखता है,—कि जो जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यंतर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है।

टीका : "जो इन अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त—ऐसे पाँच भावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है।"

अपने शुद्ध आत्मा से भिन्न कहीं जिनशासन नहीं है, इसलिये शुद्ध आत्मा का अनुभव कहो या समस्त जिनशासन का अनुभव कहो—वह एक ही है। जिसने अपने शुद्ध आत्मा को जाना, उसने समस्त जिनशासन को जान लिया। [—चर्चा से]

आत्मधर्म

कार्तिक : २४८० ☆ वर्ष नववाँ ☆ अंक आठवाँ

''आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त होता है ?''

[११]

श्री प्रवचनसार के परिशिष्ट में ४७ नयों द्वारा आत्मद्रव्य का वर्णन किया है; उस पर पूज्य स्वामीजी के विशिष्ट अपूर्व प्रवचनों का सार

[अंक १०० से आगे]

(२०) सर्वगतनय से आत्मा का वर्णन

साधक जीव अपने श्रुतज्ञान को स्वसन्मुख करके अनंत धर्मस्वरूप आत्मा को स्वानुभव से जानता है; सर्वगतनय से देखने पर वह आत्मा, खुली हुई आँख की भाँति सर्वव्यापी है। जिसप्रकार खुली हुई आँख सर्व पदार्थों में प्रविष्ट हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान सर्व पदार्थों में प्रविष्ट हो जाता है, इसलिये आत्मा सर्व में व्यापक है। वास्तव में आत्मा कहीं अपना स्वक्षेत्र छोड़कर परद्रव्य में प्रविष्ट नहीं हो जाता, परन्तु अपने ज्ञानसामर्थ्य द्वारा वह सर्व पदार्थों को जान लेता है; उस अपेक्षा से उसे सर्वव्यापक कहा है—ऐसा समझना। यह भी आत्मा का एक धर्म है, और उसी समय उसके साथ दूसरे अनंत धर्म विद्यमान हैं। अन्य धर्मों का निषेध करके एकान्त एक धर्म को ही पकड़ बैठे तो वह नय नहीं कहलाता; वह तो मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान में नय नहीं होते।

जिसप्रकार खुली हुई आँख सब को देखती है, इसलिये ''आँख सर्वत्र प्रविष्ट हो जाती है''—ऐसा कहा जाता है; उसी प्रकार आत्मा लोकालोक के समस्त पदार्थों को जानता है, उस अपेक्षा से उसमें सर्वगतधर्म है। आत्मा का ज्ञान सर्व को जानते हुए मानों सर्व में व्याप्त हो जाता हो!—इसप्रकार सर्वगत धर्म कहकर ज्ञानसामर्थ्य बतलाया है। आत्मा स्वयं विस्तृत होकर कहीं सर्व पदार्थों में व्याप्त नहीं हो जाता, परन्तु पूर्ण ज्ञान विकसित होने से वह सर्व पदार्थों को जान लेता है; उस अपेक्षा से उसे 'सर्वगत' कहा है। अपने आत्मा में ऐसा सर्वगत स्वभाव सदैव विद्यमान है; उसकी प्रतीति करने से ज्ञान का परिणमन विकासरूप होकर ऐसा विकसित होता है कि एक समय में सर्व को जान ले! केवलज्ञान होने से पूर्व भी आत्मा में ''सर्वगत धर्म'' तो है; किन्तु जो उसकी प्रतीति करे, उसे केवलज्ञान प्रगट होता है। आत्मा के सर्वगतपने की प्रतीति करे और सर्वज्ञता प्रगट न हो, ऐसा नहीं हो सकता।

प्रश्न : एक जीव सर्वज्ञ होने से उसके केवलज्ञान में लोकालोक के सर्व भाव ज्ञात हुए, और जैसा उसके ज्ञान में ज्ञात हुआ है, वैसा ही होना है, तो फिर जीवों को पुरुषार्थ करना कहाँ रहा? केवली भगवान ने जो देखा है, उसमें कुछ फेरफार तो होना नहीं है?

उत्तर : केवली भगवान के ज्ञान में जैसा ज्ञात हुआ, वैसा ही होगा, उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होना है—यह बात सच है, परन्तु उससे पुरुषार्थ नहीं उड़ जाता, अपितु उसी में ज्ञातामात्रपनेरूप यथार्थ पुरुषार्थ आ जाता है। अहो! सर्वज्ञ भगवान के केवलज्ञान का अचिंत्य सामर्थ्य जिसने अपनी प्रतीति में लिया, उसे अपने ज्ञानस्वभाव की ओर का अपूर्व पुरुषार्थ आ जाता है। भगवान को केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह कहाँ से आया?—ज्ञानस्वभाव में से। इसलिये केवलज्ञान का निर्णय करने से ज्ञानस्वभाव की ओर दृष्टि हो जाती है और मोक्षमार्ग का पुरुषार्थ प्रारम्भ हो जाता है।

केवली भगवान को जो केवलज्ञान प्रगट हुआ, वह आत्मा की शक्ति में से ही प्रगट हुआ है; कहीं बाह्य से या राग में से नहीं आया है। अहो! मेरे आत्मा में सर्वगतपना प्रगट हो, ऐसा सामर्थ्य है—इसप्रकार जिसने पर्याय में सर्वगत शक्ति का निर्णय किया, उसने स्वद्रव्यसन्मुख एकाग्रता द्वारा ही वह निर्णय किया है, इसलिये वह स्वभाव की ओर के पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग में आ ही गया है और केवली प्रभु के सर्वगत ज्ञान में भी ऐसा ही भासित हुआ; उस जीव को अब अल्पकाल में मोक्षदशा प्रगट हो जायेगी। देखो, यह आत्मा के सर्वगत धर्म की प्रतीति का फल! एक धर्म को पृथक् करके

प्रतीति में लेने की यह बात नहीं है, परन्तु एक धर्म का यथार्थ निर्णय करते हुए दृष्टि अखण्ड द्रव्य में प्रविष्ट हो जाती है। आत्मा के सर्वगत धर्म की प्रतीति किसी पर के सन्मुख देखने से नहीं होती; परन्तु सर्वगत धर्म आत्मा का है, इसलिये आत्मा के सन्मुख देखने से उसकी प्रतीति होती है। सर्वगत धर्म की प्रतीति करनेवाले को परसन्मुख देखना तो नहीं रहा और अपने में भी राग-द्वेष या अल्पज्ञता पर दृष्टि नहीं रही। ''अल्पज्ञता जितना ही मैं हूँ''—ऐसी प्रतीति नहीं रही; रागादि का आश्रय नहीं रहा और क्षणिक पर्याय पर या एक-एक धर्म के भेद पर भी दृष्टि नहीं रही; परन्तु अनंत धर्म को धारण करनेवाले अभेद द्रव्य पर दृष्टि गई। अभेद द्रव्य की दृष्टि बिना उसके एक-एक धर्म का भी सच्चा ज्ञान नहीं होता। इसप्रकार सर्वगत धर्म को स्वीकार करनेवाले जीव की दृष्टि में किसी भी पर का, विकार का, अल्पज्ञता का या भेद का आश्रय नहीं रहा परन्तु आश्रय परिपूर्ण शुद्ध स्वद्रव्य का ही आश्रय रहा; स्वभाव के आश्रय से उसे अल्पकाल में सर्वज्ञदशा हुए बिना नहीं रहेगी।

''अहो, सर्व पदार्थों को जान लूँ—ऐसा मेरे ज्ञान का सामर्थ्य है, इसलिये मेरा आत्मा सर्वगत है''—इसप्रकार साधक धर्मात्मा को अपने सम्यग्ज्ञान में आत्मा का स्वभाव ज्ञात होता है, और उसी को 'सर्वगत नय' होता है। अभव्य को तीनकाल में कभी भी सर्वगतपना व्यक्त हो—ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है, और उसे ऐसा सर्वगत धर्म प्रतीति में भी नहीं आता; जिसे ऐसा धर्म प्रतीति में आये, उसे सर्वगतपना (केवलज्ञान) प्रगट हुए बिना नहीं रहता। अभव्य जीव को केवलज्ञानावरणीय कर्म है, इसलिये उसमें भी केवलज्ञान की शक्ति तो है परन्तु वह केवलज्ञान प्रगट होकर सर्वगतपना हो, ऐसा धर्म उसमें नहीं है। धर्मी जीव को सर्वज्ञदशा प्रगट होने से पूर्व भी भावश्रुतज्ञान में अपने सर्वगत धर्म का निर्णय हो जाता है, और अल्पकाल में सर्वगतपना प्रगट हो—ऐसा ज्ञान उसमें होता है।

''सर्व जीव हैं सिद्धसम''—निश्चय से सर्व जीव सिद्ध जैसे हैं;—इस कथन में तो अभव्य जीव भी आ जाते हैं; परन्तु इस समय जो सर्वगत धर्म कहा जा रहा है, ऐसा सर्वगतपना प्रगट होने का धर्म उनमें नहीं है। किन्तु यहाँ पर की बात नहीं लेना है। यहाँ तो अपने आत्मा को जानने की बात है। जिसने अपने सर्वगत स्वभाव की प्रतीति की, उसकी पर्याय प्रतिक्षण निर्मल होती जाती है और अल्पकाल में सर्वज्ञता प्रगट हो जाती है। जिसने आत्मा के सर्वगत धर्म की प्रतीति की, उसके पर्याय में अल्पज्ञता और विकार होने पर भी ''मैं सदा अल्पज्ञतारूप या विकाररूप रहूँगा''—ऐसी

शंका नहीं रहती; परन्तु वह तो नि:शंक है कि अपने स्वभाव के आश्रय से ही राग और अल्पज्ञता को तोड़कर मैं अल्पकाल में सर्वज्ञ हो जाऊँगा। छोटे से छोटे धर्मात्मा को भी ऐसी नि:शंकता होती हे। यदि सर्वगत धर्म को जाने तो ऐसी नि:शंकता हुए बिना न रहे; और यदि ऐसी नि:शंकता न हो तो उसने सर्वगत धर्म को और आत्मा को जाना ही नहीं है।

''आत्मा तो सदैव अल्पज्ञ ही रहता है, आत्मा को तीनकाल-तीनलोक का ज्ञान कभी होता ही नहीं।'' ऐसा जो मानता है, उसने तो आत्मा को अभव्य जैसा माना है; यदि अभव्य की मुक्ति हो तो ऐसी मान्यतावाले की मुक्ति हो! अभव्य जीवों को कभी सर्वज्ञता प्रगट होती ही नहीं। यदि कोई ऐसा माने कि ''आत्मा कभी सर्वज्ञ होता ही नहीं, वह तो अल्पज्ञ ही रहता है''—तो उसने अभव्य की अपेक्षा अपने आत्मा में कोई विशेषता नहीं मानी। यहाँ ऐसे जीवों की बात नहीं है। यहाँ तो जिसे अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति हो जाती है और अल्पकाल में ही सर्वज्ञदशा प्रगट होने की नि:शंकता हो जाती है-ऐसे साधक जीव की बात है। जहाँ अपने सर्वगत धर्म को माना, वहाँ पूर्ण स्वभाव की प्रतीति हुई, और अल्पज्ञता का, विकार का तथा निमित्त का आदरभाव दृष्टि में से छूट गया; इसलिये उसी में सम्यक्त्व का महान पुरुषार्थ आ गया। जिसे आत्मा के सर्वगत स्वभाव की प्रतीति हुई हो, वह ऐसा नहीं मानता कि ''सम्यग्दर्शन में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है।'' चारित्र में आत्मा का पुरुषार्थ है परन्तु सम्यक्त्व में आत्मा का पुरुषार्थ नहीं है—यह मान्यता तो महान विपरीत है; प्रथम सम्यक्त्व के बिना जो चारित्रदशा अथवा मुनित्व का होना मानता है, उसे तो धर्म की इकाई की भी खबर नहीं है। धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है, सम्यग्दर्शन के बिना किसी भी प्रकार का धर्म नहीं होता; परन्तु अरे रे! मूढ़ जीवों को सम्यग्दर्शन की महिमा की खबर नहीं है, वे सम्यग्दर्शन के बिना ही धर्म मान रहे हैं।

यहाँ आत्मा को 'सर्वगत' कहा, उससे ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए कि एक आत्मा सर्व पदार्थों में व्यापक होगा! यहाँ तो सर्व को जानने के सामर्थ्य की अपेक्षा से आत्मा में सर्वगतपना कहा है; परन्तु आत्मा का ज्ञान कहीं पर में नहीं जाता। जिस प्रकार ''चंचल मनुष्य की आँखें चारों ओर पहुँच जाती हैं''—ऐसा कहा जाता है, परन्तु आँख कहीं अपने में से बाहर निकलकर पर में नहीं जाती; उसीप्रकार आत्मा का ज्ञान, पर को जानते समय आत्मा में से निकलकर कहीं पर में प्रविष्ट नहीं हो जाता; परन्तु सर्व को जानने का सामर्थ्य है, उस अपेक्षा से उसे 'सर्वगत' कहा जाता है। ऐसा सर्वगतपना आत्मा का एक धर्म है।

सर्वगत धर्म आत्मा का अपना है, इसलिये तीनकाल-तीनलोक को जानने का सामर्थ्य अपने में से ही प्रगट होता है; शरीर के संहनन के कारण अथवा कर्म दूर होने के कारण आत्मा में सर्वगतपना प्रगट नहीं हुआ है। आत्मा के ज्ञानसामर्थ्य का परिपूर्ण विकास हो जाने से वह सर्व को जानता है, इसलिये सर्वगत है; परन्तु आत्मा कहीं क्षेत्र से सर्वगत नहीं है; क्षेत्र से तो असंख्यप्रदेशी ही है परन्तु सामर्थ्य से अनंत है। अहो! आत्मा में ऐसा अचिंत्य ज्ञानसामर्थ्य है कि अपने स्वक्षेत्र में ही रहकर समस्त पदार्थों को एक समय में जान लेता है; सारे जगत में उसकी आन वर्तती है। तीनलोक के नाथ ऐसे चैतन्यसम्राट की आज्ञा जगत में सर्वत्र चलती है; उस ज्ञान की आज्ञा से बाहर जगत में कुछ नहीं होता। देखो, अज्ञानी लोग ईश्वर को जगत्कर्ता कहते हैं, ऐसी यह बात नहीं है; परन्तु ज्ञानसामर्थ्य में तीनकाल-तीनलोक ज्ञात हो गये हैं और उसीप्रकार जगत में सब चल रहा है; जो सर्वज्ञ के ज्ञान में ज्ञात हुआ, उसमें कुछ भी फेरफार नहीं होता—इस अपेक्षा से ज्ञान की आन सारे जगत में वर्तती है;—ऐसा कहा है। जो जीव सर्वगत-स्वभाव को जाने, उसे सर्वज्ञता प्रगट हुए बिना न रहे। साधक जीव स्वसन्मुख होकर अपनी ऐसी शक्ति की प्रतीति करता है और उसके अल्पकाल में वह शक्ति विकसित हो जाती है। जो जीव ऐसी शक्ति की प्रतीति नहीं करता, उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो, जो जीव समझने के लिये तैयार होकर लालसापूर्वक पूछता है, उसे आचार्यदेव समझाते हैं; इसलिये उपादान-निमित्त की संधिसहित यह वर्णन है।

सर्वगतशक्ति आत्मा में त्रिकाल है; उस सर्वगतशक्ति का जो स्वीकार करे, उसे अपने ज्ञान के विकास के लिये किन्हीं निमित्तों के समक्ष देखना नहीं रहता क्योंकि उनके आधार से सर्वगतशक्ति स्थित नहीं है। सर्वगतशक्ति तो द्रव्य के आधार से स्थित है, इसलिये सर्वगतशक्ति का स्वीकार करनेवाले को द्रव्य-सन्मुख ही देखना रहता है। जिसकी दृष्टि में निमित्तों की या पुण्य की रुचि है, उसे अपने सर्वगतस्वभाव की प्रतीति नहीं है; और अपनी सर्वगतशक्ति को जाननेवाला जीव, पुण्य की या निमित्तों के आश्रय की रुचि नहीं करता। देखो, एक सर्वगतशक्ति की स्वीकृति में कितना उत्तरदायित्व आता है? सर्वगतधर्म की प्रतीति करनेवाले को निमित्त के, पुण्य के तथा पर्याय के आश्रय की दृष्टि छूटकर, अंतर में चिदानन्द अखण्ड द्रव्यसन्मुख दृष्टि होना चाहिए। अखण्ड द्रव्य की दृष्टि किये बिना धर्म में एक डग भी नहीं चला जा सकता।

❀ ❀ ❀

इस परिशिष्ट में अनेक धर्मों से आत्मद्रव्य का वर्णन करके आचार्यदेव ने स्पष्ट वस्तुस्वरूप

की पहिचान कराई है। जिसे सुखी होना हो, उसे यथार्थ वस्तुस्वरूप को जानना चाहिए। जैसा वस्तुस्वभाव हो, वैसा ही जाने, तभी सच्चा ज्ञान प्रगट होता है, और सच्चा ज्ञान हो, तभी उसके फलरूप सच्चा सुख प्रगट होता है। इसलिये सम्यग्ज्ञान ही धर्म है और वही सुख तथा शांति है। आत्मा का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान में जाने तो उसकी महिमा आये और ज्ञान आत्मोन्मुख हो; इसलिये आत्मा और ज्ञान की एकता होने से बीच का राग टूट जाये, उसका नाम सम्यग्ज्ञान और वीतरागता है; वही सुख का सच्चा उपाय है, वही मोक्षमार्ग है, वही धर्म है। आत्मा का मूलस्वभाव जानने से ज्ञान एवं राग की एकत्वबुद्धि दूर हो और ज्ञान तथा स्वज्ञेय की (आत्मस्वभाव की) एकत्वबुद्धि हो, उसका नाम भेदविज्ञान अथवा सम्यग्ज्ञान है।

आत्मद्रव्य में सर्वगत धर्म है; उस धर्म द्वारा धर्मी ऐसे अखण्ड स्वद्रव्य की प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से सर्वगतपना (केवलज्ञान) प्रगट होता है। जिसने अपनी सर्वगत शक्ति की प्रतीति की, वह किसी पर से, विकार से या अल्पज्ञता के आधार से अपने केवलज्ञान का होना नहीं मानता। आत्मा सर्वगत शक्तिवाला है, उसी में से सर्वगतपना प्रगट होता है; उसकी प्रतीति करके उसमें एकाग्र होने से सर्वगत ज्ञान प्रगट हो जाता है। इस सर्वगत धर्म की मुख्यता से आत्मा को जानना, वह सर्वगतनय है; अभव्य को ऐसा सर्वगत ज्ञान कभी नहीं होता। जो सर्वगतनय से सर्वगत धर्म वाले आत्मा को जानता है, उसे सर्वगतपना प्रगट होता है—ऐसी यहाँ बात है; क्योंकि सर्वगत धर्म की प्रतीति करनेवाले को अखण्ड आत्मस्वभाव का आश्रय होता है।

सम्यक्रूप एक-एक धर्म से आत्मा की प्रतीति करते हुए भी ध्रुवस्वभाव का ही आश्रय हो जाता है; क्योंकि वे धर्म किसी पर के, विकार के या पर्याय के आश्रय से नहीं हैं, परन्तु धर्मी ऐसे अखण्ड द्रव्य के आश्रय से ही उसका प्रत्येक धर्म विद्यमान है; इसलिये उस द्रव्य के आश्रय से ही उसके धर्मों की यथार्थ प्रतीति होती है, किन्तु किसी निमित्त के या भेद के आश्रय से उनकी प्रतीति नहीं होती। यदि द्रव्य से उसके धर्म को पृथक् करके प्रतीति में लेने जाये तो वहाँ धर्मी का या धर्म का—किसी का सच्चा ज्ञान नहीं होता।

देखो, यह बात करके ऐसा बतलाते हैं कि हे जीव! तेरी अनंत शक्तिया तुझमें एकसाथ भरी हैं, उन्हें तू संभाल! तू ही अपना सर्वशक्तिमान परमेश्वर है—ऐसा विश्वास करके अन्तर्मुख हो तो तेरी पर्याय में सर्वगतशक्ति प्रगट हो जाये। तेरी जितनी शक्ति है, वह सब तुझमें ही भरी है; इसलिये कहीं भी पराश्रय की आशा छोड़कर अपने स्वभाव का ही आश्रय कर। जीव अपनी शक्ति से

परिपूर्ण है, परन्तु वह अपनी संभाल नहीं करता, इसलिये पराश्रय की भीख माँग-माँग कर भटक रहा है। यदि निजशक्ति को सँभाले तो पराश्रय छूटकर स्वाश्रय से अल्पकाल में सिद्ध हो जाये। जो अनंत सिद्ध भगवन्त हुए हैं, वे सब निज शक्ति की सँभाल करके उसी के आश्रय से सिद्ध हुए हैं।

आत्मा में सर्वगत धर्म त्रिकाल है, परन्तु उसकी प्रतीति करनेवाली जो पर्याय है, वह नवीन प्रगट होती है; और उस पर्याय को पर का, राग का तथा क्षणिक पर्याय का आश्रय नहीं रहता किन्तु त्रिकाली स्वभाव का ही आश्रय होता है।

देखो भाई! यह अंतर की अचिन्त्य बात है; यह इन्द्रियों से ज्ञात हो—ऐसा स्थूल विषय नहीं है परन्तु अतीन्द्रियज्ञान से ज्ञात हो, ऐसा सूक्ष्म विषय है। चैतन्य पदार्थ, मन-वाणी-देह से तो पार है और मन के संकल्प-विकल्पों से भी पार है। श्री सर्वज्ञभगवान शरीर-मन-वाणी से पार ऐसी अत्यन्त गहरी घाटी में ले जाकर चैतन्य के अपार निधान बतलाते हैं; उनका विश्वास करके हे जीव! अपने ज्ञानचक्षुओं में रुचि का अंजन लगा तो तुझे अपने चैतन्यनिधान दिखाई दें। अज्ञान से अंध हुए जीव अपने पास ही पड़े हुए निजनिधान को नहीं देखते; श्रीगुरु उन्हें सम्यक्श्रद्धारूपी अंजन आँजकर उनके निधान बतलाते हैं कि देखो! तुम्हारे निधान तुम्हारे अंतर में ही भरे हैं; बाह्यदृष्टि छोड़कर अंतर में दृष्टि करो तो सिद्ध भगवान जैसे ही निधान तुममें भरे हैं, वे तुम्हें दिखाई देंगे। एक चैतन्य की प्रतीति करने से अनंत सिद्धभगवन्त, केवली और संतों की समस्त ऋद्धि तुम्हें अपने में ही दिखाई देगी, वह ऋद्धि तुम्हें कहीं ढूँढ़ना नहीं पड़ेगी। संत-महंत जिस ऋद्धि को प्राप्त हुए हैं, वह उन्होंने अपने चैतन्य में से ही प्राप्त की है, कहीं बाह्य से प्राप्त नहीं की है। तुम्हारे चैतन्य में भी वह सब ऋद्धि भरी है; आँखें खोलकर देखो तो दिखाई देगी; किन्तु यदि पर में अपनी त्रद्धि लेने जाओगे तो अन्ध होकर घोर संसाररूपी वन में भटकोगे। अज्ञानी जीव अन्तर्मुख होकर अपने स्वभाव की महिमा की प्रतीति नहीं करते और पुण्य-पाप के टुकड़े खाकर अनादि से भवचक्र में भटक रहे हैं; यहाँ आचार्य भगवान करुणा करके उस भवभ्रमण से छूटने का मार्ग बतलाते हैं कि अन्तर्मुख होकर निजशक्ति की संभाल करो तो भवभ्रमण से मुक्त हो जाओगे!

अहो! आचार्यदेव चैतन्य के ऐसे निधान बतलाते हैं कि अन्य किसी वस्तु की आवश्यकता न रहे। सुपात्र जीवों को सम्बोधन करके आचार्यदेव कहते हैं कि—अरे जीवो! तुम्हें चैतन्य के ऐसे निधान बतलाता हूँ कि किसी अन्य वस्तु की तुम्हें आवश्यकता ही न रहे... अपने चैतन्य की महिमा देखते ही तुम्हें पर की महिमा छूट जायेगी... अनंत धर्मस्वभावी तुम्हारा आत्मा ही चैतन्यमूर्ति

भगवान है; तुम्हें किसी अन्य की आवश्यकता नहीं है; तुम स्वयं ही जगत के निधानों को देखनेवाले हो! सदैव अल्पज्ञ सेवक ही बना रहे, ऐसा तुम्हारे आत्मा का स्वभाव नहीं है; तुम्हारा आत्मा तो सर्वज्ञ की बराबरी का है; जितना सर्वज्ञ ने किया, उतना करने की शक्ति तुममें भी भरी है। जो जीव ऐसी शक्तिवाले निजात्मा की प्रतीति करे, उसे किसी निमित्त के या विकल्प के आश्रय की श्रद्धा उड़ जाती है; पर्यायबुद्धि छूट जाती है और स्वयं अनंत चैतन्यशक्ति का पिण्ड उसकी प्रतीति में आ जाता है.... वह सम्यग्दृष्टि होकर मोक्षमार्ग में विचरने लगता है... अन्तर्दृष्टि से वह स्वयं अपने को त्रिलोकीनाथ परमेश्वर के रूप में देखता है।

प्रथम जो जीव श्रुतज्ञानचक्षु खोलकर अंतर के चैतन्यनिधान को देखे, उसके केवलज्ञानचक्षु भी खुले बिना नहीं रहते। इसलिये श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! तू अपने ज्ञाननेत्रों को खोल! अपनी आँख खोलकर चैतन्यनिधान को देख! तेरा अपूर्व निधान बतलाने के लिये यह अंजन लगाया जा रहा है।

श्रुतज्ञान अनंत किरणों से जगमगाते हुए सूर्य के समान है और नय उसकी एक किरण है; उसमें 'सर्वगतनय' आत्मा के सर्वगत धर्म को देखता है। 'सर्वगत' कहने से कहीं अटकना नहीं रहा। आत्मा, राग-द्वेष करके कहीं न तो अटके और न संसार में भटके—ऐसा उसका ज्ञानस्वभाव है। जहाँ उस स्वभाव की प्रतीति में लिया, वहाँ दृष्टि में तो भगवान हुआ, और अब अल्पकाल में पर्याय से भी प्रभुता प्रगट होगी; यानी एकसमय में तीनकाल-तीनलोक को जान ले, ऐसा सर्वगत ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो जायेगा।

—यहाँ २० वें सर्वगत नय से आत्मा का वर्णन पूरा हुआ।

अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा की
कुछ शक्तियाँ

[१०]

सर्वज्ञत्व शक्ति

''धर्म का मूल सर्वज्ञ है'' उस सर्वज्ञता के निर्णय में अत्यन्त गंभीरता विद्यमान है। यहाँ, प्रत्येक आत्मा में विद्यमान सर्वज्ञत्व शक्ति के प्रवचन में पूज्य स्वामीजी ने जैनधर्म के अनेक मूलभूत रहस्य प्रकाशित किये हैं। प्रत्येक आत्मार्थी जीव को यह प्रवचन मननपूर्वक समझने का नम्र अनुरोध है।

प्रत्येक आत्मा में अनंत शक्तियाँ हैं; इसलिये वह अनेकान्तमूर्ति है। उस अनेकान्तमूर्ति भगवान आत्मा को बतलाने के लिये यहाँ उसकी कुछ शक्तियों का वर्णन चल रहा है। उसमें सर्वदर्शित्व शक्ति का वर्णन किया; अब उसके साथ सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन करते हैं।

समस्त विश्व के विशेष भाव को जाननेरूप परिणमित ऐसे आत्मज्ञानमयी सर्वज्ञत्व शक्ति है। दर्शन तो 'सर्व है'—ऐसा सामान्य सत्तामात्र भाव को देखता है; परन्तु जगत के समस्त पदार्थ सत्तारूप से समान होने पर भी, उनके स्वरूप में विशेषता है; कोई जीव है, कोई अजीव है, कोई सिद्ध है, कोई साधक है, कोई अज्ञानी है;—इसप्रकार अनंत प्रकार के भिन्न-भिन्न भाव हैं, उन सबको विशेषरूप से जाने, ऐसी आत्मा की सर्वज्ञत्व शक्ति है। यह शक्ति दूरवर्ती या निकटवर्ती, वर्तमान या भूत-भविष्य के समस्त पदार्थों को एकसमय में जानती है परन्तु उनमें से किसी का अच्छा-बुरा नहीं मानती; इसमें मात्र जानने का ही भाव है; राग-द्वेष का भाव सर्वज्ञत्व शक्ति में नहीं है। ''सर्व भाव ज्ञाता-दृष्टा सह शुद्धता''—ऐसा इन शक्तियों का परिणमन है।

आत्मा की समस्त शक्तियों में ऐसी कोई शक्ति नहीं है कि जो पर को या विकार को करे; परन्तु पर को या विकार को न करे, ऐसी अकर्तृत्व शक्ति आत्मा में त्रिकाल है; और पर को या

विकार को जाने, ऐसी सर्वज्ञत्व शक्ति भी त्रिकाल है।

अहो! समस्त विश्व को जानने की शक्ति आत्मा में त्रिकाल विद्यमान है। उसकी प्रतीति करनेवाला जीव धर्मी है। वह धर्मी जीव, शरीर-मन-वाणी इत्यादि की जो भी क्रिया हो, उसे जानने की क्रिया करता है; परन्तु ''मैं उसे करता हूँ, अथवा यह हो तो मुझे अच्छा, और न हो तो बुरा''—ऐसी मान्यतारूप मिथ्यात्व की क्रिया को वह नहीं करता। वह जानता है कि मेरे आत्मा में पर को जानने का गुण है परन्तु पर का ग्रहण-त्याग करने का कोई गुण मुझ में नहीं है; जगत के सर्व पदार्थों को यथावत् भिन्न-भिन्नस्वरूप से जाननेरूप परिणमित हो, ऐसी सर्वज्ञत्व शक्ति का मैं स्वामी हूँ, परन्तु पर की क्रिया का मैं स्वामी नहीं हूँ। अपनी क्रियाशक्ति से अपने अनंत गुण के परिणमनरूप क्रिया का मैं कर्ता हूँ, परन्तु पर की क्रिया को या विकार को मैं नहीं करता। जड़ में भी क्रियाशक्ति है; उसकी क्रिया उसके अपने से होती है; मैं तो उसका ज्ञाता हूँ। आत्मा की शक्ति का विकास होने से अपने में सर्वज्ञता प्रगट होती है, परन्तु आत्मा की शक्ति का विकास होने से वह पर का कुछ कर दे अथवा जगत का उद्धार कर दे—ऐसा नहीं होता।

साधक को पर्याय में सर्वज्ञता प्रगट न होने पर भी, वह अपनी सर्वज्ञत्व शक्ति की प्रतीति करता है; वह प्रतीति पर्याय के समक्ष देखकर नहीं की है परन्तु स्वभावसन्मुख देखकर की है। वर्तमान पर्याय तो स्वयं ही अल्पज्ञ है, उस अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति कैसे हो सकती है? अल्पज्ञ पर्याय द्वारा सर्वज्ञता की प्रतीति होती है, परन्तु अल्पज्ञता के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति नहीं होती; त्रिकाली स्वभाव के आश्रय से ही सर्वज्ञता की प्रतीति होती है। प्रतीति करनेवाली तो पर्याय है, परन्तु उसे आश्रय द्रव्य का है। द्रव्य के आश्रय से सर्वज्ञता की प्रतीति करनेवाले जीव को सर्वज्ञतारूप परिणमन हुए बिना नहीं रहता।

अभी अपने को सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्व भी 'मेरा आत्मा त्रिकाल सर्वज्ञतारूप परिणमित होने की शक्तिवाला है'—इसप्रकार जिसने स्वसन्मुख होकर निर्णय किया, वह जीव अल्पज्ञता को, राग को या पर को अपना स्वरूप नहीं मानता। अल्पज्ञ पर्याय के समय भी सर्वज्ञत्व शक्ति होने का जिसने निर्णय किया, उसकी रुचि का बल अल्पज्ञ पर्याय पर से हटकर अखण्ड स्वभाव में ढल गया है, इसलिये वह 'सर्वज्ञ भगवान का नंदन' हुआ है।

आत्मा के सर्व गुण अपने में ही कार्य करते हैं। आत्मा अपने अनंत गुण-पर्याय का विभु है, अनंत गुण-पर्यायों में उसकी सत्ता व्याप्त है; परन्तु आत्मा पर का विभु नहीं है, पर के ऊपर उसकी

सत्ता नहीं है। और जगत के समस्त पदार्थों को, उनके गुणों को और उनकी भावान्तर या क्षेत्रान्तररूप पर्यायों को—सबको एकसाथ जाने, ऐसा आत्मा के ज्ञान का विभुत्व है; जो आत्मा अपनी ऐसी ज्ञानशक्ति की प्रतीति करे, वही सच्चा जैन और सर्वज्ञदेव का भक्त है; परन्तु आत्मा पर का ग्रहण-त्याग और परिवर्तन करता है—ऐसा जो मानता है, वह आत्मा की शक्ति को, सर्वज्ञदेव को अथवा जैनशासन को नहीं मानता है; वह वास्तव में जैन ही नहीं है।

देखो भाई! यह क्या कहा जा रहा है? आत्मा महान भगवान है, उसकी महानता के यह गीत गाये जा रहे हैं। यह कहीं कल्पना से नहीं कहा जाता, परन्तु आत्मा का स्वभाव ही ऐसा है। सर्व आत्माओं में सर्वज्ञशक्ति विद्यमान है। 'सर्वज्ञ...' अर्थात् सर्व का ज्ञाता। अनंत द्रव्य, अनंत गुण, अनंत पर्यायें—इन सबको जाने ऐसा महा महिमावान अपना स्वभाव है, उसे अन्यरूप—विकारी स्वरूप से मानना ही आत्मा की महान हिंसा है। भाई रे! तू सर्व का 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञाता है, परन्तु पर का तो कभी कुछ कर ही नहीं सकता। जहाँ प्रत्येक वस्तु पृथक्-पृथक् है, वहाँ प्रथक् वस्तु का तू क्या करेगा? तू भी स्वतंत्र और वह भी स्वतंत्र; सब स्वतंत्र हैं। अहो! अनेकान्त में तो अकेली वीतरागता है। 'मैं स्व-रूप हूँ और पर-रूप नहीं हूँ'—ऐसा निर्णय करते ही अनंत परतत्त्वों से उदास होकर स्वतत्त्व में स्थिर हो गया, इसलिये वीतरागता हो गई;—इसप्रकार अनेकान्त में वीतरागता आ जाती है। अनेकान्त कहो या भेदज्ञान कहो, उसके बिना वीतरागता होती ही नहीं।

अनेकान्त, वह वीतरागी विज्ञान है; उसमें सम्यग्ज्ञानपूर्वक की वीतरागता है; और एकान्त में अर्थात् स्व-पर की एकत्वबुद्धि में अज्ञानसहित का कषायभाव है। अनेकान्त में तो वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र की स्थापना है; इसलिये अनेकान्त ही मोक्षमार्ग है, वही परम अमृत है। जहाँ पर का कर्तव्य माना, वहाँ एकान्त है, उसमें मिथ्यात्व और राग-द्वेष भरे हैं, वही संसार का मूल है।

अनेकान्त प्रत्येक पर्याय स्वाधीन स्वरूप बतलाता है; प्रत्येक पदार्थ अपने स्वरूप से ही अनंत धर्मात्मक है, ऐसा अनेकान्त बतलाता है। 'अनेकान्त' कहते ही स्व से अस्ति और पर से नास्ति अर्थात् अपने से परिपूर्ण और पर से पृथक् वस्तु सिद्ध होती है। मैं पर से शून्य हूँ और अपने स्वभाव से स्वाधीन-परिपूर्ण हूँ;—इसप्रकार अनेकान्त में वीतरागी श्रद्धा है, स्व-पर तत्त्व की भिन्नता का वीतरागी ज्ञान है, और उसी में स्वरूपस्थिरतारूप वीतरागी चारित्र है; क्योंकि पर से

भिन्नत्व को जाना, इसलिये ज्ञान पर में युक्त न होकर स्व में स्थिर हुआ। इसप्रकार वीतरागी श्रद्धा, वीतरागी ज्ञान और वीतरागी चारित्र—यह तीनों अनेकान्त में आ जाते हैं।

मैं पर का कुछ कर दूँ;—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसने सामनेवाले तत्त्व को पराधीन माना है। जिसने एक भी तत्व को पराधीन माना, उसने जगत के समस्त पदार्थों को पराधीन स्वरूप से माना है, और स्वाधीन तत्त्व का कथन करनेवाले तीनकाल के संतों का उसने विरोध किया है। इसप्रकार पर का कर्तव्य माननेवाले एकान्तवादी जीव का अनंतवीर्य विपरीत श्रद्धा में, विपरीत ज्ञान में और विपरीत चारित्र में रुक गया है, इसलिये वह अनंत संसार में भटकता है। अनेकान्त का फल मोक्ष और एकान्त का फल संसार है। एकान्तवादी को आचार्यदेव ने 'पशु' कहा है, क्योंकि वह अपने आत्मस्वभाव को पर से भिन्नरूप नहीं देखता, किन्तु कर्म इत्यादि पर को ही आत्मारूप से देखता है। अनेकान्तवादी तो अपने आत्मा की पर से भिन्नरूप साधना करता है। अनेकान्त में बहुत गंभीरता है।

'मैं पर का कुछ करूँ'—इसका अर्थ यह हुआ कि मेरा अस्तित्व पर में है; अर्थात् मैं अपने रूप नहीं हूँ। और जिसप्रकार 'मैं अपने रूप में नहीं हूँ' उसीप्रकार जगत का कोई तत्त्व अपनेरूप से नहीं है—ऐसा भी उसमें गर्भितरूप से आ गया; इसलिये उसके अभिप्राय में जगत का कोई पदार्थ सत् रहा ही नहीं; इसप्रकार 'मैं पर का करूँ'—ऐसे अभिप्राय में तीनलोक के सत् का घात होता है, इसलिये उस विपरीत अभिप्राय को महान पाप कहा है। जगत के पदार्थ तो जैसे हैं, वैसे सत् हैं; उनका तो कहीं अभाव नहीं होता, परन्तु विपरीत अभिप्राय का सेवन करनेवाले जीव को अपनी पर्याय में मिथ्यात्व का महान पाप उत्पन्न होता है। यदि इस अनेकान्त से वस्तुस्वरूप को समझे तो सर्व विपरीत अभिप्राय छूट जाएँ। मैं अपनेरूप सत् हूँ और पर पररूप से सत् है, मैं पररूप से असत् हूँ और पर मेरे रूप से असत् है—ऐसा समझने से कहीं परावलम्बन का भाव नहीं रहता; स्वावलम्बन मात्र वीतरागता ही प्रगट होती है। सारा जगत ऐसे का ऐसा अपने-अपने स्वरूप में विराजमान है; उसमें कहाँ राग और कहाँ द्वेष ? रोग-द्वेष कहीं है ही नहीं; मैं तो सबका ज्ञाता ही हूँ, सर्वज्ञत्व शक्ति का पिण्ड हूँ—ऐसा धर्मी जानता है।

यह आत्मवैभव का वर्णन चलता है। अपने में ही स्थिर रहकर एक समय में तीनकाल-तीनलोक को जाने, ऐसा ज्ञानवैभव आत्मा में विद्यमान है। यदि आत्मा की सर्वज्ञत्व शक्ति का विश्वास करे तो कहीं फेरफार करने की बात उड़ जाती है। "निमित्त आए तो कार्य होता है और

निमित्त न हो तो कार्य नहीं होता''—ऐसी जिसकी मान्यता है, उसे सर्वज्ञत्व शक्ति की प्रतीति नहीं है। ''सर्वज्ञता'' कहते ही सर्व पदार्थों का क्रमबद्ध परिणमन सिद्ध हो जाता है। यदि पदार्थ की त्रिकाल की पर्यायें नियमित क्रमबद्ध न हों और उल्टी-सीधी होती हों तो सर्वज्ञता ही सिद्ध नहीं हो सकती; इसलिये सर्वज्ञता का स्वीकार करनेवाले को यह सब स्वीकार करना ही पड़ेगा।

आत्मा में सर्वज्ञशक्ति त्रिकाल है; वह सर्वज्ञशक्ति आत्मज्ञानमय है। आत्मा पर के साथ तन्मय होकर पर को नहीं जानता परन्तु स्व में तन्मय रहकर जानता है। किसी पर के कारण सर्वज्ञत्व शक्ति परिणमित नहीं होती परन्तु आत्मा के आश्रय से ही परिणमित होती है। आत्मसन्मुख रहकर आत्मा को जानने से लोकालोक ज्ञात हो जाता है; इसलिये सर्वज्ञत्व शक्ति आत्मज्ञानमय है; जिसने आत्मा को जाना, उसने सर्व जाना। लोकालोक को जानने पर भी सर्वज्ञत्व शक्ति तो आत्मज्ञानमय ही है; लोकालोक के कारण केवलज्ञान नहीं है।—यह बात सर्वदर्शित्व शक्ति के वर्णन में विस्तार से आ गई है, तदनुसार यहाँ भी जानना।

हे जीव! तेरे ज्ञानमात्र आत्मा के परिणमन में अनंत धर्म एकसाथ उछल रहे हैं; उसी में झाँककर अपने धर्म को ढूँढ़। जिसने अपनी सर्वज्ञता की प्रतीति की, वह जीव देहादि की क्रिया का ज्ञाता रहा। पर की क्रिया को बदलने की बात तो दूर रही, परन्तु अपनी क्रियावतीशक्ति से आत्मा का जो क्षेत्रान्तर होता है, उसे भी ज्ञान करता नहीं है, मात्र जानता ही है। 'सर्वज्ञता' कहने से दूरवर्ती या निकटवर्ती पदार्थ को जानने में भेद नहीं रहा; पदार्थ दूर हो या निकट हो, उसके कारण ज्ञान करने में कुछ भी फेर नहीं पड़ता। दूरवर्ती पदार्थ को निकटवर्ती करना या निकटवर्ती पदार्थ को दूरवर्ती करना, वह ज्ञान का कार्य नहीं है; परन्तु निकटवर्ती पदार्थ की भाँति दूरवर्ती पदार्थ को भी स्पष्ट जानना ज्ञान का कार्य है। जगत के विशेष भावों को ज्ञान समान रीति से जानता है। केवली भगवान को समुद्घात होने से पूर्व उसे जाननेरूप परिणमन हो गया है; भविष्य की अनंतानंत सुख-पर्यायों का वेदन होने से पूर्व सर्वज्ञत्वशक्ति उसे जाननेरूप परिणमित हो गई है। भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा में 'सीमंधर जिन चरण कमल पर...' इत्यादि बोलने की क्रिया ज्ञान नहीं करता; इच्छा-विकल्प का भी वह कार्य नहीं है, और चावल आदि आठ प्रकार की वस्तुएँ एकत्रित करने का कार्य ज्ञान का नहीं है, तथा शुभ विकल्प हो, वह कार्य भी ज्ञान का नहीं है; ज्ञान का कार्य तो मात्र 'जानना' ही है; उसमें भी अपूर्ण जाननेरूप परिणमित हो, ऐसा ज्ञान का मूल स्वरूप नहीं है; सर्व को जाननेरूप परिणमित होने का ही ज्ञान का स्वरूप है—ऐसा यहाँ आचार्यदेव ने सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन करके बतलाया है।

रुपया आये या जाये, शरीर में आहार का प्रवेश हो या न हो, पुस्तक लिखी जाये या भाषा बोली जाये—उनमें कुछ भी करने की आत्मा की शक्ति नहीं है; परन्तु उन सबको जानने की आत्मा की शक्ति है। गले में कफ अटक गया हो; ज्ञान जानता है कि यहाँ कफ अटका है, परन्तु उस कफ को निकालने की शक्ति ज्ञान में नहीं है; शरीर में रोग हो, वहाँ वह रोग कब हुआ-कितना हुआ, उसे ज्ञान जानता है, परन्तु उस रोग को दूर करने की शक्ति ज्ञान में नहीं है। श्रीमद् राजचन्द्रजी कहते हैं कि ''तिनके के दो टुकड़े करने की शक्ति भी हम में नहीं है''—इसका आशय यह है कि हम तो ज्ञायक हैं, एक परमाणुमात्र को बदलने का कर्तृत्व भी हम नहीं मानते। तिनके के दो टुकड़े हों, उसे करने की हमारी शक्ति नहीं है, किन्तु जानने की शक्ति है। और वह भी इतना ही जानने की शक्ति नहीं है परन्तु परिपूर्ण जानने की शक्ति है। जो ज्ञान की पूर्ण जानने की शक्ति को माने, वह अपूर्णदशा या राग को अपना स्वरूप नहीं मानता; इसलिये उसे ज्ञान के विकास का अहंकार कहाँ से होगा? जहाँ पूर्ण स्वभाव का आदर है, वहाँ अल्पज्ञान का अहंकार होता ही नहीं। ज्ञानस्वभावी आत्मा संयोगरहित और पर में रुकने के भाव रहित है; किसी अन्य द्वारा उसका मान या अपमान नहीं है। सर्वज्ञता अर्थात् अकेला ज्ञान...परिपूर्ण ज्ञान... ऐसे ज्ञान से परिपूर्ण आत्मा की प्रतीति करना, वह धर्म की नींव है।

निमित्त से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा माननेवाले को विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है। निमित्त से आत्मा को लाभ होता है—ऐसा माननेवाले ने आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति को स्वीकार नहीं किया है। मुझ में ही सर्वज्ञरूप परिणमित होने की शक्ति है, उसी से मेरा ज्ञान परिणमित होता है—ऐसा न मानकर, शास्त्रादि के निमित्त से मेरा ज्ञान परिणमित होता है—ऐसा जिसने माना है, उसने संयोग से लाभ माना है। जो जिससे लाभ माने, उसे उसी में सुखबुद्धि होती है। संयोग से लाभ माने, उसे संयोग में सुखबुद्धि है; निमित्त से सुख माने, उसे निमित्त में सुखबुद्धि है। संयोग अर्थात् पर विषय; निमित्त भी पर विषय है। जिसे निमित्त के आश्रय की बुद्धि है, उसे पर विषय में सुखबुद्धि है। जिसने आत्मा को किसी भी संयोग से या निमित्त से लाभ माना, उसके अंतर में पर विषयों को ही रुचि है; उसे आत्मा के स्वाधीन सुख की रुचि नहीं हुई है और स्वविषय उसकी दृष्टि में नहीं आया है। जिसे वास्तव में आत्मा के सुख की रुचि हो, वह किसी भी परविषय से लाभ नहीं मानता; चैतन्यविम्ब स्वतत्त्व के अतिरिक्त अन्य से लाभ मानना, वह मैथुनबुद्धि अर्थात् विषयों में सुखबुद्धि है।

'मेरा आत्मा ही सर्वज्ञता और परमसुख से परिपूर्ण हैं'—ऐसी जिसे प्रतीति नहीं है, वह जीव भोग हेतु धर्म की अर्थात् पुण्य की ही श्रद्धा रखता है; चैतन्य के निर्विषय सुख का उसे अनुभव नहीं है, इसलिये उसके अंतर की गहराई में भोग का हेतु ही विद्यमान है।

सर्वज्ञत्वरूप से परिणमित होने की आत्मा की शक्ति है; उसके बदले निमित्त के आश्रय से ज्ञान विकसित होता है—ऐसा जो मानता है, उसे पञ्चेन्द्रिय के विषयों में सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है; निमित्त और विषय दोनों एक ही हैं। निमित्त से लाभ माननेवाला या विषयों में सुख माननेवाला इन दोनों की एक ही जाति है। वे आत्मस्वभाव के आश्रय से परिणमित न होकर संयोग का आश्रय करके ही परिणमित हो रहे हैं; भले ही शुभभाव हो, तथापि उनके विषयों की रुचि दूर होकर स्वभावसुख की रुचि नहीं हुई है।

पर में से कुछ भी लाभ ले—ऐसी कोई शक्ति आत्मा में नहीं है; और आत्मा को लाभदायी हो—ऐसी कोई शक्ति परवस्तु में नहीं है; तथापि पर का आश्रय करके जो लाभ लेना मानता है, उसे स्वविषय की रुचि नहीं है परन्तु अंतर में विषयों के सुख की रुचि विद्यमान है; उसने अपने आत्मा को ध्येयरूप नहीं किया है परन्तु विषयों को ही ध्येयरूप बनाया है। यहाँ विषय कहने से मात्र अशुभराग के निमित्त ही नहीं समझना, परन्तु देव-गुरु-शास्त्रादि शुभराग के निमित्त भी पर विषय ही हैं। अपने चैतन्यस्वभाव के अतिरिक्त समस्त पदार्थ पर विषय हैं; उनके आश्रय से जो लाभ माने, उसे पर विषयों की प्रीति है।

प्रत्येक आत्मा में सर्वज्ञत्वशक्ति है; उसकी श्रद्धा करनेवाले को पर विषयों के आश्रय से लाभ की बुद्धि नहीं होती। "अहो! मेरे आत्मा में सर्वज्ञता का सामर्थ्य है"—ऐसी जिसने प्रतीति की, उसने वह प्रतीति परसन्मुख देखकर की है या अपनी शक्तिसन्मुख देखकर की है? आत्मा की शक्ति की प्रतीति आत्मा को ध्येय बनाकर होती है या पर को ध्येय बनाकर होती है? किसी निमित्त, राग अथवा अपूर्ण पर्याय के लक्ष से पूर्णता की प्रतीति नहीं होती परन्तु अखण्ड स्वभाव के लक्ष से ही पूर्णता की प्रतीति होती है। परमार्थ से अरिहंत भगवान इस आत्मा के ध्येय नहीं है; उनके लक्ष तो राग होता है। अरिहंत भगवान की शक्ति उनमें है, किन्तु उनके पास से कहीं इस आत्मा की शक्ति नहीं आती। अरिहंत भगवान जैसी इस आत्मा की शक्ति अपने में विद्यमान है। यदि अरिहंत भगवान के सन्मुख ही देखता रहे और अपने आत्मा की ओर न ढले तो मोह का क्षय नहीं होता। जैसे शुद्ध अरिहंत भगवान हैं, वैसा ही मैं हूँ—ऐसा जानकर यदि अपने आत्मा की ओर ढले तो सम्यग्दर्शन

प्रगट होकर मोह का क्षय होता है। प्रभो! तेरी चैतन्यसत्ता के असंख्यप्रदेशी क्षेत्र में तेरे अचिंत्य निधान भरे है; तेरी सर्वज्ञशक्ति तेरे ही निधान में भरी है, उसकी प्रतीति करके स्थिरता द्वारा खोद तो तेरे निधान में से सर्वज्ञता प्रगट हो।

विश्व के समस्त भावों को विशेष प्रकार से जानने की आत्मा की शक्ति है। जड़-चेतन, मूर्त-अमूर्त, सिद्ध-संसारी, भव्य-अभव्य इत्यादि समस्त विविध और विषमभावों को वीतरागरूप से जान ले, ऐसा सर्वज्ञता का सामर्थ्य आत्मा में भरा है। किसी निमित्त के कारण यह ज्ञानसामर्थ्य विकसित नहीं होता। यदि आत्मा निमित्त से जानता हो तो सर्वज्ञत्वशक्ति निमित्तमयी हो गई किन्तु आत्मज्ञानमयी नहीं रही! जिस प्रकार पूर्णता को प्राप्त ज्ञान में निमित्त का अवलम्बन नहीं है, उसी प्रकार निचलीदशा में भी निमित्त के कारण ज्ञान नहीं होता; इसलिये वास्तव में पूर्णता की प्रतीति करनेवाला साधक अपने ज्ञान को परावलम्बन से नहीं मानता, परन्तु स्वभाव के अवलम्बन से मानकर स्वोन्मुख करता है। परसन्मुख देखने से आत्मा का कुछ भी नहीं हो सकता; सर्वज्ञशक्तिवाले अपने आत्मा की ओर देखने से सर्वज्ञता की प्राप्ति हो सकती है। अनंतकाल परसन्मुख देखता रहे तथापि, वहाँ के सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होगी, और निजस्वभावसन्मुख देखकर स्थिर होने से क्षणमात्र में सर्वज्ञता प्रगट हो सकती है।

अपने स्वभाव के अवलम्बन से तीनकाल तीनलोक को जाननेरूप परिणमित होने की आत्मा की शक्ति है; उसके बदले स्वभावगृह को छोड़कर, निमित्तादि परद्रव्यों के अवलम्बन से जो अपना परिणमन मानता है, उस अज्ञानी की व्यभिचारी बुद्धि है। निमित्त के आश्रय से लाभ होता है—ऐसी मान्यता कहो, मिथ्यात्व कहो, मूढ़ता कहो, संयोगीदृष्टि कहो, विषयों में सुखबुद्धि कहो, व्यभिचार कहो, अधर्म कहो या अनंत संसार का मूल कारण कहो—उन सबका एक ही भाव है। जहाँ अपने सहज स्वरूप की रुचि नहीं है और पराश्रयभाव की रुचि है, वहाँ उपरोक्त समस्त भाव उसमें भरे ही हैं।

सर्वज्ञता प्रगट होने से पूर्ण साधकदशा में ही आत्मा की पूर्ण शक्ति की प्रतीति करने की यह बात है। पूर्ण शक्ति की प्रतीति करके उसका आश्रय लेने से ही साधकदशा प्रारम्भ होकर पूर्ण दशा प्रगट होती है।

साधक को शाश्वत तीर्थ सम्मेदशिखर आदि की यात्रा का भाव आता है, परन्तु उन तीर्थों के कारण मुझे शीघ्र भगवान का ज्ञान हो जायेगा—ऐसा वह नहीं मानता। उसे ऐसी प्रतीति है कि

निकटवर्ती और दूरवर्ती समस्त पदार्थों को समानरूप से जानने की मेरे ज्ञान की शक्ति है; मेरे ज्ञानसामर्थ्य को दूर का या निकट का जानने में फेर नहीं पड़ता। जहाँ पूर्ण ज्ञानसामर्थ्य विकसित हो गया, वहाँ दूर क्या और निकट क्या? ज्ञान तो आत्मा में रहकर जानता है; कहीं पदार्थों के समीप जाकर उन्हें नहीं जानता। एक सर्वज्ञ ढाई द्वीप के मध्य में हों और दूसरे ढाई द्वीप के छोर पर हों, तो वहाँ बीच में विराजमान सर्वज्ञ को चारों ओर के पदार्थों का अधिक स्पष्ट ज्ञान हो और छोर पर विद्यमान सर्वज्ञ को सामनेवाले छोर के पदार्थों का दूर होने के कारण कुछ कम ज्ञान हो—ऐसा नहीं है; दोनों की सर्वज्ञता समान ही है। यहाँ के पदार्थ का जैसा स्पष्ट ज्ञान निकटवर्ती सर्वज्ञ को होता है, वैसा ही स्पष्ट ज्ञान लाखों-करोड़ों योजना दूर विद्यमान सिद्ध भगवन्तों को होता है; सर्वज्ञता में अन्तर नहीं पड़ता। ऐसी सर्वज्ञतारूप परिणमित होने की शक्ति प्रत्येक जीव में त्रिकाल विद्यमान है।

"अहो! मेरा सर्वज्ञपद प्रगट होने की शक्ति मुझमें वर्तमान ही भरी है"—इसप्रकार स्वभावसामर्थ्य की श्रद्धा करने से ही वह अपूर्व श्रद्धा जीव को बाह्य में उछाले मारने से रोक देती है और उसके परिणमन को अन्तर्मुख कर देती है। इसप्रकार एक सर्वज्ञत्वशक्ति की प्रतीति करने से उसमें मोक्ष की क्रिया-धर्म की क्रिया आ जाती है। जो जीव स्वभावसन्मुख होकर उसकी प्रतीति नहीं करता और निमित्त की सन्मुखता से लाभ मानता है, उस जीव को विषयों में से सुखबुद्धि दूर नहीं हुई है और न स्वभावबुद्धि हुई है। मस्तक काटनेवाला निमित्त मुझे हानिकर्ता है और भगवान की वाणी लाभदायक है;—इसप्रकार पर विषयों से लाभ-हानि होने की जिसकी मान्यता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि, विषयबुद्धिवाला है। स्वभाव की बुद्धिवाला धर्मी जीव तो ऐसा जानता है कि मस्तक काटनेवाला हिंसक या दिव्यध्वनि सुनानेवाले सर्वज्ञ-वीतरागदेव—दोनों मेरे ज्ञान के ज्ञेय हैं। उन ज्ञेयों के कारण मुझे कोई लाभ-हानि नहीं है और न उन ज्ञेयों के कारण मैं उन्हें जानता हूँ। राग-द्वेष के बिना समस्त ज्ञेयों को जान लेने की सर्वज्ञत्वशक्ति मुझमें विद्यमान है। कदाचित् अस्थिरता का विकल्प आ जाये, तथापि धर्मी को ऐसी श्रद्धा तो हटती ही नहीं। इसलिये जिस पूर्ण स्वभाव को प्रतीति में लिया है, उसी के अवलम्बन के बल से अल्पकाल में उनके पूर्ण सर्वज्ञता विकसित हो जाती है।

[अनेकान्तस्वरूपी आत्मा की सर्वज्ञत्वशक्ति का वर्णन यहाँ पूर्ण हुआ।]

अध्यात्म का रहस्य

कैसी दृष्टि से साधकपना होता है ?

[''वस्तु का स्वरूप अनेकान्तमय है; वहाँ साधकजीव की अध्यात्मदृष्टि में कभी निश्चय की मुख्यता होती है और कभी व्यवहार की मुख्यता होती है—ऐसा नहीं है; साधक की दृष्टि में तो सदैव अभेद की ही मुख्यता है; अभेद की दृष्टि से ही सदैव साधकत्व होता है।''—जैनधर्म का यह गूढ़ रहस्य पूज्य स्वामीजी ने इन प्रवचनों में स्पष्ट किया है।]

अध्यात्मदृष्टि में अभेद को मुख्य करके उसे निश्चय कहा है और भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। अभेद की मुख्यता को निश्चय कहा और भेद की गौणता करके उसे व्यवहार कहा, उसमें महान सिद्धान्त है; जैनदर्शन का मूल रहस्य उसमें आ जाता है। अध्यात्म की दृष्टि में सदैव अभेद की ही मुख्यता रहती है; इसलिये मुख्य, वह निश्चय है और भेद की सदैव गौणता है; इसलिये गौण, वह व्यवहार है। ज्ञानी की दृष्टि में कभी भेद की मुख्यता नहीं होती, उसकी दृष्टि में सदैव अभेद की ही मुख्यता है; अभेद के आश्रय से ही साधकपना होता है। साधकपना पर के या राग के आश्रय से तो नहीं है, परन्तु भेद के आश्रय से भी साधकदशा नहीं है; अभेद के ही आश्रय से साधकदशा है, इसलिये साधक की दृष्टि में अभेद द्रव्य की ही मुख्यता है। देखो, यह जैनधर्म के अनेकान्त का रहस्य! निश्चय और व्यवहार दोनों को जानकर, अभेद द्रव्य का आश्रय लेना ही प्रयोजन है। अभेद द्रव्य के अवलम्बन बिना वीतरागी दशा नहीं होती। यदि अभेद द्रव्य का अवलम्बन न करे तो जीव का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। अध्यात्म-कथन में जीव का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये—अर्थात् अभेद द्रव्य का अवलम्बन कराके शुद्धदशा प्रगट करने के लिये—सदैव अभेद को ही मुख्य कहा जाता है, और वही निश्चयनय का विषय है;—ऐसे निश्चयनय के आश्रय से ही मुक्ति होती है।

अध्यात्म-प्रकरण का यह रहस्य है कि उसमें अभेद की ही मुख्यता है और मुख्य, वही निश्चय है तथा उसी के आश्रय से धर्म होता है; उसमें भेद की गौणता है और गौण, वह व्यवहार है। ऐसा जानकर जो अभेद द्रव्य का आश्रय करके परिणमित हो, उसी ने दो नयों को यथार्थ जाना कहा जाता है।

अध्यात्म-प्रकरण में मुख्य को निश्चय कहा जाता है और गौण को व्यवहार कहा जाता है;

वहाँ मुख्य कौन ? अभेद द्रव्य ही मुख्य है, और भेदरूप पर्याय, वह गौण है। देखो, अध्यात्म-कथन में 'निश्चय, वह मुख्य'—ऐसा नहीं कहा, परन्तु 'मुख्य, वह निश्चय'—ऐसा कहा है; क्योंकि अध्यात्मदृष्टि में तो सदैव अभेद की ही मुख्यता रहती है; इसलिये मुख्य को निश्चय कहा। अभेद, वह मुख्य है और वही निश्चयनय का विषय है; भेद, वह गौण है, इसलिये वह व्यवहारनय का विषय है। धर्मी जीव की दृष्टि में अभेद द्रव्य की ही मुख्यता है और भेद की—पर्याय की गौणता है; इसलिये अध्यात्म में अभेद द्रव्य को मुख्य करके उसे निश्चय कहा है और भेदरूप पर्याय को गौण करके उसे व्यवहार कहा है। द्रव्य और पर्याय—यह दोनों वस्तु के ही अंश हैं, वे कहीं पर के कारण नहीं है, परन्तु पर्याय की गौणता है, इसलिये उसे व्यवहार कहा है। ''पर्याय पर से होती है, इसलिये'' व्यवहार है—ऐसा नहीं है, परन्तु ''पर्याय गौण है, इसलिये'' व्यवहार है। यदि पर्याय को वस्तु का अंश न माने, और पर के कारण पर्याय होती है—ऐसा माने तो एकान्त,निश्चय हो जाता है; क्योंकि पर्याय, वह अपना व्यवहार है, उसे नहीं माना, इसलिये एकान्त मिथ्यात्व हो गया। ज्ञानी तो अपने द्रव्य और पर्याय—दोनों को बराबर जानकर अभेद की ओर ढलता है, इसलिये उसकी दृष्टि में अभेद की मुख्यता और भेद की गौणता है। परन्तु जो जीव अपने द्रव्य-पर्याय को जानता ही नहीं, उसे तो मुख्य-गौण करना रहा ही कहा ? अनेकान्त से द्रव्य-पर्याय दोनों को जानकर, अभेद द्रव्यदृष्टि करने से भेद का विकल्प टूटकर निर्विकल्प अनुभव होता है; यही साधकदशा की अर्थात् धर्म की रीति है। इसके अतिरिक्त बाह्य क्रियाकाण्ड तो दूर रहे, परन्तु भेद के ऊपर दृष्टि रहे तो भी धर्म नहीं होता। अभेद द्रव्य की दृष्टि से ही धर्म होता है। *[शेष अगले अंक में]*

सच्चा उद्यम

समयसार में आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव ! तू जगत का व्यर्थ कोलाहल छोड़कर अंतर में चैतन्यवस्तु के अनुभवन का छह महीने तक प्रयत्न कर, तो अपने अंतर में तुझे अवश्य उसकी प्रतीति होगी। अन्य रुचि छोड़कर चैतन्य की रुचिपूर्वक यदि अंतर में अभ्यास करे तो अल्पकाल में उसका अनुभव हुए बिना न रहे। सम्यग्दर्शन प्रगट करने के लिये अंतर में तत्त्वनिर्णय और अनुभव का अपूर्व उद्यम करना चाहिए।

महावीर भगवान की मुक्ति का
मंगल-महोत्सव

[श्री महावीर निर्वाण-कल्याणक महोत्सव प्रसंग पर पूज्य गुरुदेव के भिन्न-भिन्न प्रवचनों से]

महावीर भगवान स्वयं सिद्ध हुए यह तो सर्वोत्कृष्ट मंगल है... और... जिन भव्य आत्माओं ने अपने आत्मा में शुद्ध सम्यग्दर्शनादि प्रकाश प्रगट करके सिद्धदशा की ओर पुनीत प्रयाण किया है, वे भी धन्य हैं... वह भी अपूर्व मंगल है।

आज मुक्ति-महोत्सव का मांगलिक दिवस है। इस भरतक्षेत्र के अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान आज मुक्त हुए थे। आज से २४७९ वर्ष पूर्व वे इस भरतभूमि में तीर्थंकर रूप से विचरते थे; उस समय तो इन्द्र और देवों की टोलियाँ भगवान की पूजा-भक्ति करने के लिये यहाँ उतरती थीं। आज कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल भगवान अभूतपूर्व सिद्धदशा को प्राप्त हुए, उसका आज महोत्सव है। भगवान पावापुरी से मोक्ष पधारे, उस समय देव-देवेन्द्रों तथा अनेक राजाओं ने रत्नदीपों द्वारा भगवान के निर्वाण-कल्याणक का महोत्सव किया, इसलिये वह दिन दीपावली पर्व के नाम से प्रसिद्ध है। इसप्रकार दीपावली पर्व लौकिक त्यौहार का दिन नहीं है किन्तु भगवान की मुक्तदशा का मांगलिक महोत्सव है।

☆☆☆

मोक्षार्थी जीवों को विचार करना चाहिए कि भगवान कौन थे और वे किसप्रकार मोक्ष को प्राप्त हुए। जैसे यह आत्मा है, वैसे ही आत्मा महावीर भगवान भी हैं; वे भी पहले अज्ञानदशा में चार गति में भ्रमण करते थे; किसी धन्य घड़ी में अपूर्व पुरुषार्थ से आत्मतत्त्व की पहिचान करके उन्नतिक्रम में चढ़ते-चढ़ते वे तीन लोक के नाथ तीर्थंकर हुए। आत्मा में जो केवलज्ञान और परमानन्द सामर्थ्यरूप थे, वे उन्हें पर्याय में परिपूर्ण व्यक्त हो गये। भगवान जैसा ही स्वभावसामर्थ्य प्रत्येक आत्मा में भरा है; उसे पहिचान कर उसमें लीन होने से पर्याय में वह व्यक्त होता है। इस प्रकार कोई भी आत्मा भगवान जैसी दशा प्रगट कर सकता है।

☆☆☆

महावीर भगवान आत्मा इस समय सिद्धदशा में ठीक पावापुरी के ऊपर सिद्धक्षेत्र में

विराजमान है; उनके पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द प्रगट हो गया है—देहरहित दशा प्रगट हो गई है, किन्हीं भी अन्य द्रव्यों की अपेक्षा बिना अकेले आत्मस्वभाव से ही वे परिपूर्ण ज्ञान और सुखमय हो गये हैं, और भविष्य में अनंतानंत काल तक ऐसी ही कृतकृत्य दशा में विराजमान रहेंगे। अहो! उस सिद्धदशा की महिमा की क्या बात! धन्य है उस दशा को...

आत्मा के सिद्धपद की महिमा करने जैसी है। किसी के पुत्रजन्म हो या विवाह हो, उसे जगत में मंगल कहा जाता है, किन्तु वास्तव में तो आत्मा की मोक्षदशा प्रगट हो, वही अपूर्व मंगल है। भगवान की भाँति यह आत्मा भी किस प्रकार मोक्ष प्राप्त कर सकता है? मोक्ष का उपाय क्या है—वह समझना चाहिए। भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया उसका महोत्सव मनाए और पूजा करे लेकिन स्वयं यह न समझे कि उस मोक्ष का उपाय क्या है, तो अपूर्व कल्याण का लाभ प्राप्त नहीं होगा।

☆☆☆

दीपावली पर्व तो वास्तव में महावीर भगवान की मुक्ति का महान मांगलिक महोत्सव है; उसके बदले आजकल तो लोग लक्ष्मीपूजन—बही-खातों की पूजादि अशुभ भाव करके संसार के हेतु से दीपावली मनाते हैं; किन्तु वास्तव में तो आज का दिन आत्मा के पूर्णानन्द स्वभाव को प्रगट करने की भावना का है। आज के दिन तो भगवान को याद करके विशेषरूप से भावना करना चाहिए। अहो! भगवान ने जिस मुक्तिपथ पर विचरण किया, उस पथ पर मैं कब विचरूँगा! भगवान ने जैसी पूर्णानन्द दशा को प्राप्त किया, वैसी दशा मैं कब प्राप्त करूँगा? जैसा भगवान का आत्मा है, वैसा ही मेरा आत्मा है—ऐसा जानकर स्वभाव की उस भावना द्वारा विभाव को तोड़कर मैं केवलज्ञान प्राप्त करूँ—ऐसे वीर्य के उल्लास का आज का दिन है।

☆☆☆

भगवान ने निर्वाण प्राप्त किया, उसे 'मृत्यु' नहीं कहा जा सकता, वह मुक्ति है। भगवान तो मृत्यु पर विजय प्राप्त करके अमर पद को प्राप्त हुए; इसलिये भगवान की मुक्ति का महोत्सव मनाया जाता है।

☆☆☆

वर्तमान में इस भरतक्षेत्र में महावीर भगवान का शासन चल रहा है। महावीर भगवान की मुक्ति होने के पश्चात् गौतमस्वामी, सुधर्मस्वामी और जम्बूस्वामी—इन तीन पीढ़ियों तक

केवलज्ञान रहा, और पश्चात् एकावतारी हुए। और अभी पंचमकाल के अन्त तक एकावतारी जीव होनेवाले हैं। जैसा एकावतारीपना पंचमकाल के प्रारम्भ में चौदह पूर्व के धारी मुनियों को था, वैसा ही एकावतारीपना पंचमकाल के अन्त के जीवों को भी होगा।

अरिहंतदशा में श्री महावीर परमात्मा ने दिव्यध्वनि द्वारा जो वस्तुस्वरूप कहा और गणधर भगवन्तों ने झेला, वही अभी तक आचार्य-परम्परा से चला आ रहा है। वीतरागी संतों ने सर्वज्ञ भगवान की वाणी की परम्परा बना रखी है और मोक्षमार्ग को अविच्छिन्न रखा है। अहो! पंचमकाल के अन्त में भी आत्मभान करके एकावतारीपना प्रगट करनेवाले जीव होंगे, तब फिर वर्तमान में तो अवश्य आत्मभान किया जा सकता है। आत्मा का भान होने पर अंतर से भव के अन्त का विश्वास आ जाता है।

☆☆☆

देखो, आज भगवान की मुक्ति का महोत्सव है। कोई कहे कि भगवान ने मोक्ष प्राप्त किया उससे हमें क्या? लेकिन भाई! जिसे स्वयं मोक्ष की भावना होती है, उसे भगवान का मोक्ष देखकर अंतर से उसके बहुमान का उल्लास उछले बिना नहीं रहता। जो महावीर भगवान जैसे अपने स्वरूप का समझेंगे, वे अवश्य ही मुक्ति प्राप्त करेंगे। परमार्थतः जैसा महावीर भगवान के आत्मा का स्वरूप है, वैसा ही समस्त आत्माओं का स्वरूप है। उस स्वरूप को समझकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट करना ही मोक्ष का सच्चा महोत्सव है।

''अहो! आज पवित्रात्मा श्री महावीरस्वामी सदैव के लिये संसार से मुक्त होकर अभूतपूर्व सिद्धदशा को प्राप्त हुए... और श्री गौतम गणधरस्वामी ने केवलज्ञान प्राप्त किया''—यह सुनकर किस मुमुक्षु का हृदय आनन्द से नहीं नाचने लगेगा!!

हजारों वर्ष पहले तीर्थधाम श्री पावापुरी में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल श्री महावीर प्रभुजी ने योगनिरोध किया और कर्म तथा शरीर के संयोगरहित होकर अशरीरी सिद्ध हुए... चतुर्गति का अन्त लाकर अपूर्व पंचमगति को प्राप्त किया... और, जिस दिन भगवान सिद्ध हुए, उसी दिन गौतम प्रभु ने केवलज्ञान प्रगट करके भगवान के अरिहंत पद का उत्तराधिकार सम्हाला।—इसप्रकार सिद्धदशा और अरिहंतदशा—ऐसे दो सर्वोत्कृष्ट पदों का कल्याणक-महोत्सव है।

२४७९ वर्ष पूर्व बने हुए उस पवित्र प्रसंग को वर्तमान में याद करके... मानों आज ही वह

प्रसंग बना हो—ऐसी भावना करके भव्य जीव उत्साहपूर्वक उसका महोत्सव मनाते हैं; उसमें वास्तव में तो स्वयं वैसी पूर्ण दशा प्राप्त करने की भावना है, इसलिये अपनी पूर्णदशा को भावपूर्वक निकट लाकर उसका उत्साह करते हैं। अहो! महावीर भगवान आज मुक्त हुए... सादि अनंतकाल तक सहजानन्द स्वरूप में विराजमान रहें—ऐसा शुद्ध आत्मजीवन भगवान ने प्राप्त किया... मेरा आत्मा भी अब इस भवभ्रमण से छूटकर ऐसी मुक्तदशा कब प्राप्त करेगा!!—इस प्रकार सिद्ध स्वभाव की अत्यंत उत्कंठा और महात्म्य द्वारा भव्य जीव भगवान की मोक्षदशा का महोत्सव मनाते हैं।

वास्तव में तो—जैसा सिद्ध भगवान का आत्मा है, वैसा ही आत्मा मैं हूँ—इसप्रकार अपने आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके अपने में सिद्धत्व का अंश प्रगट करना ही मंगल-महोत्सव है। श्री वीरप्रभु स्वयं सिद्ध हुए, वह तो सर्वोत्कृष्ट मंगल है... और... जिन भव्यात्माओं ने अपने आत्मा में शुद्ध सम्यग्दर्शनादि प्रकाश प्रगट करके सिद्धदशा की ओर पुनीत प्रयाण किया है, वे भी धन्य हैं... वह भी अपूर्व मंगल है।

''नमस्कार हो महावीर भगवान को... और उनके मुक्तिपथ पर विचरनेवाले संतों को.....''

धर्म

[दुर्गति में जाने से रोके, उसका नाम धर्म]

धर्म का अर्थ क्या ?

'धारण कर रखे, वह धर्म' अर्थात् आत्मा को अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूप में धारण कर रखना और विकार में न जाने देना, उसका नाम धर्म है। अथवा जो 'दुर्गति में जाने से रोके, वह धर्म है।' यहाँ 'दुर्गति' कहने से नरक और तिर्यंचगति ही नहीं समझना चाहिए; परन्तु संसार की चारों गतियाँ, वह दुर्गति है; और मोक्षगति ही वास्तव में सुगति है। जिस भाव से आत्मा को संसार की चार गति में परिभ्रमण करना पड़े, वह भाव दुर्गति है। दुर्गति का अर्थ इसप्रकार होता है—दुः अर्थात् बुरा और गति अर्थात् परिणमन। मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्ररूप परिणमन से जीव की चार गति में परिभ्रमण होता है; इसलिये वास्तव में मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो बुरा-विकारी परिणमन है, वही दुर्गति है। उस मिथ्यादर्शन आदि विकारी परिणमन से जो आत्मा का उद्धार करे, उसका नाम धर्म है। शुद्ध आत्मस्वभाव के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल परिणमन होने से मिथ्यादर्शनादि रूप बुरा परिणमन नहीं होता; इसलिये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही धर्म है और वही वास्तव में सुगति अर्थात् मोक्ष का कारण है।

जिन्हें शुद्ध आत्मस्वभाव का भान नहीं है और पुण्य में धर्म मानते हैं—ऐसे अज्ञानी जीवों को ऐसा लगता है कि स्वर्ग, वह सुगति है और नरक दुर्गति है। परन्तु ज्ञानी तो जानते हैं कि मोक्षदशा ही सुगति और नरक या स्वर्गादि की चारों गति दुर्गति हैं। जिस भाव से स्वर्ग का भाव करना पड़े, वह पुण्यभाव भी विकार होने से वास्तव में दुर्गति है और शुद्ध स्वभाव के आश्रय से जितना शुद्ध परिणमन हुआ, वही सुगति है। सच्ची सुगति वही कहलाती है जिसे प्राप्त करने के पश्चात् पुनः कभी संसार में अवतार ग्रहण करना न रहे। इसलिये मोक्षदशा की प्राप्ति ही सच्ची सुगति है। *[प्रवचन से]*

परम पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजी स्वामी के आध्यात्मिक
प्रवचनों का अपूर्व लाभ लेने के लिये निम्नोक्त पुस्तकों की—

अवश्य स्वाध्याय करें

समयसार प्रवचन भाग १	६)	भजनमाला	
समयसार प्रवचन भाग २	५)	(अजमेर भजन-मण्डली की)	
समयसार प्रवचन भाग ३	४)	मूल में भूल	
समयसार (हिंदी)		मुक्ति का मार्ग	
(मूल संस्कृत टीका सहित)	१०)	अनुभवप्रकाश	
प्रवचनसार हिंदी		अष्टपाहुड़	३)
(मूल संस्कृत टीका सहित)	५)	चिद्विलास	१)
आत्मावलोकन	१)	दसलक्षणधर्म	)
मोक्षमार्ग-प्रकाशक की किरणें	१)	जैन बालपोथी	)
द्वादशानुप्रेक्षा	२)	सम्यक्दर्शन	२)
अध्यात्मपाठसंग्रह	५)	स्तोत्रत्रयी	)
समयसार पद्यानुवाद	)	भेदविज्ञानसार	२)
निमित्तनैमित्तिक संबंध क्या है ?	)	पंचमेरु पूजन	)
'आत्मधर्म मासिक' वार्षिक मूल्य	३)		
आत्मधर्म फाइलें १-२-३-५-६-७ वर्ष	प्रत्येक का ३)		

(डाकव्यय अतिरिक्त)

मिलने का पता—
श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

मुद्रक : जमनादास माणेकचंद रवाणी, अनेकान्त मुद्रणालय, वल्लभ-विद्यानगर
प्रकाशक : श्री जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये—जमनादास माणेकचंद रवाणी